आयुर्वेद और जैन धर्म : एक विवेचनात्मक अध्ययन

डा० प्रमोद मालवीय, डा० शोभा मोवार, डा० यज्ञदत्त शुक्ल, प्रो० पूर्णचन्द्र जैन

आयुर्वेद भारतीय दर्शनों पर आधारित विज्ञान है। भारतीय दर्शन-परम्परा को दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम वे परम्पराएं हैं जिसके अनुयायी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, और उसे ही कर्त्ता एवं भोक्ता कहते हैं। और दूसरी परम्परा वह है जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करती। प्रथम को आस्तिक दर्शन-परम्परा और दूसरी को नास्तिक दर्शन-परम्परा की संज्ञा प्रदान की गयी है।

जैन, बौद्ध और चार्वाक मतानुयायी दर्शनों का समावेश नास्तिक दर्शनों के अन्तर्गत किया जाता है। आयुर्वेद के सन्दर्भ में इन दोनों ही परम्पराओं में पर्याप्त साम्यता है, तथा दोनों ही सम्प्रदायों के मानने वाले दार्शनिक आयुर्वेद को दुःखों की निवृत्ति के हेतु उत्पन्न विज्ञान के रूप में मानते हैं।

सव्वे जीवा वि इच्छति जीविउं न मरिज्जिउं। (दशवैकालिक ६/११)

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।

अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।
उर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। (अथर्ववेद, १९/६०/१-२)

अश्मा भवतु नस्तनूः (यजुर्वेद, २९/४९)
जीवेम शरदः शतम्। अथर्ववेद, १९/६७/२)

चिकित्सा रोगहरणलक्षणा सा तदैव जाता। (आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, १३१/१)

चिकित्सा नाम रोगापहारः रोगापहारक्रिया, सापि तदैव भगवदुपदेशात् प्रवृत्ता—(ऋषभ-चरित्र)

जैन धर्म का प्रारम्भ उसके इतिहास के अनुसार भगवान् ऋषभ से हुआ है। इस मत के मानने वालों के अनुसार वे ही आयुर्वेद के उपदेशक माने गये हैं। जैन मतावलम्बियों की मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव से पूर्व सृष्टि या लोक में दुःखों या रोगों का अभाव था। मानवसमाज पूर्ण स्वास्थ्य का सेवन कर रहा था। सम्पूर्ण जैन-आगम साहित्य को द्वादशांग के रूप में बारह भागों में विभाजित किया गया है। उसका अन्तिम अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद पुनः परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, प्रथमानुयोग और चूलिका—इन ५ भागों में विभक्त होता है। पूर्वगत १४ पूर्वों से निर्मित है। उसमें से १२ वां 'पूर्व' प्राणानुवाद पूर्व है। प्राणानुवाद 'पूर्व' में इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयु और प्राण का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही साथ शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, यम-नियम, आहार-विहार एवं रसरसायनादि का सन्दर्भ भी मिलता है। व्यक्तिगत स्वास्थ्य के साथ-साथ जनपदध्वंस के प्रति उत्तरदायी परिस्थितियों एवं व्याधियों एवं उनके निराकरण का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके साथ ही साथ दैविक, भौतिक व्याधियां भी चिकित्सा-सहित इस शास्त्र में वर्णित है। इसी 'प्राणानुवाद पूर्व' को जैन धर्मावलम्बियों ने आयुर्वेद का मूल कहा है। उत्तर काल के जन आचार्यों ने इसी आधार पर आयुर्वेद-सम्बन्धी बृहत् साहित्य की रचना की है। 'पूर्व' के उद्देश्य के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार तीव्र हवा के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झोंकों से दीपक को बचाने के लिए आवरण का उपयोग न किया जाय, तो वह ज्योतिहीन हो जाता है, उसी प्रकार सन्निपातादिरोगग्रस्त पुरुष की उचित निदान-सहित यदि चिकित्सा न हो तो उसकी मृत्यु अवश्यमेव संभावित है। इनके अनुसार आयुशेष होने पर चिकित्सा द्वारा प्राणों की रक्षा की जा सकती है। भगवान् श्रीऋषभदेव ने पुरुषों को रोग-मुक्त करने के उद्देश्य से एवं उनके स्वास्थ्य-संरक्षण हेतु श्री भरत को आयुर्वेद उपदिष्ट किया। उत्तरकाल में इसे ही 'प्राणायु' की संज्ञा प्रदान की गई है।

जैन धर्म-निर्दिष्ट उपर्युक्त आयुर्वेदोत्पत्ति-संबंधी विचारों का समर्थन वैदिकों एवं आयुर्वेद के आचार्यों ने भी किया है। उनके अनुसार भी मानव के पूर्ण नियमित जीवन-यापन के पश्चात् भी, उसके शरीर में उत्पन्न होने वाले रोगों या दुःखों का उद्भव हुआ, तब तत्कालीन महर्षियों ने किसी जगह एकत्र होकर इस समस्या पर विचार किया और सामान्य मनुष्य-मात्र के कल्याण-हेतु आयुर्वेद का ज्ञान देवताओं से प्राप्त किया। वैदिक परम्परानुसार आयुर्वेद की उत्पत्ति इन्द्र द्वारा भारद्वाज को उपदेश-प्राप्ति के आधार पर मानी गयी है। दोनों ही (वैदिक एवं जैनधर्म) परम्प्रावादियों ने आरोग्य को ही मानवता का सार बताया है। इसके अभाव में धन-धान्य या कोई भी साधन अप्रभावकारी होते हैं। आरोग्य को ही अध्ययन करने में भी प्रधान सहायक कारण माना गया है।

आरोग्याद् बलमायुश्च, सुखं च लभते महत्।
इष्टांश्चाप्यपरान् भावान्, पुरुषः शुभलक्षणः॥ (चरक संहिता)

अह पंचहि ठाणेहि जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य॥ (उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ११, गाथा ३)

इन उपर्युक्त संदर्भों में भी जैन धर्मावलम्बियों ने आरोग्य को मानवता का सार बताया है। मनुष्य धन के अभाव में भी जीवन-यापन सुख-पूर्वक कर सकता है, किन्तु आरोग्य की अनुपस्थिति में नहीं, अतः आरोग्य जीवन का शुभ लक्षण है, आदि मान्यताओं को स्वीकार किया गया है। भगवान महावीर ने स्वयं भी सुख को दस भागों में विभक्त किया है आर आरोग्य को उसमें प्रथम स्थान प्रदान किया है :—

दशविहे सोक्खे पण्णत्ते, तं जहा—आरोग्गं दीहमाउं
अड्ढेज्जं कामभोगसंतोसे। अत्थिसुहभोगणिक्खम्भमेव तत्तो अणावाहे (स्थानांग—१०/८३)

रोगों के संबन्ध में विवेचना करते हुए इन आचार्यों ने भी आरोग्य के अनुकूल होने से सुख की स्थिति होती है और रोग के प्रतिकूल होने से दुःख की स्थिति होती है—ऐसा बताया है।

अनुकूलवेदनीयं सुखं प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम्। (पातंजल योगदर्शन)

आयुर्वेदीय आचार्य चरक एवं सुश्रुत ने भी पतञ्जलि के इस कथन के आधार पर ही आरोग्य को सुख, और शरीर से व्याधि के संयुक्त होने को दुःख कहा है।

सुखसंज्ञकमारोग्यं, विकारो दुःखमेव च। (चरक संहिता)

अस्मिन् शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते, तत् दुःखसंयोगव्याप्त इत्युच्यते। (सु० सू० १)

इन आचार्यों ने शरीर की धातुओं को जिस क्रिया द्वारा समता की स्थिति में रखा जा सकता है उसे चिकित्सा कहा है, क्योंकि धातुओं की विषमता रोग का, और समता आरोग्य का कारण होती है। इस विवेचन के अनुसार, जिस क्रिया द्वारा आरोग्य की स्थिति को बनाये रखा जा सके या धातुओं की विषमता होने पर उसे पुनः समावस्था में स्थापित किया जा सके—वही चिकित्सा कहलायेगी। ऋषभ-चरित्र आदि में भी इन आचार्यों के समर्थन में उक्तियों की प्राप्ति होती है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिकित्सा रुक्-प्रतिक्रिया। (अमर कोष)

रोगहरणं तिगिच्छा (चिकित्सा)—(ऋषभ चरित्र)

इन रोगों के शरीर और मन—इन दो अधिष्ठानों का उल्लेख प्राप्त होता है। आत्मा निर्विकार होने के कारण या शुद्ध होने के कारण इस में सम्मिलित नहीं की जा सकती है। मानसिक रोगों की उत्पत्ति प्रज्ञापराध द्वारा, तथा शारीरिक रोग इन्द्रियार्थों के अयोग, अतियोग एवं मिथ्या योग द्वारा होती है। इनकी शान्ति के लिए क्रमशः सम्यग् ज्ञान, और शारीरिक शुद्ध स्पर्शादि का समयोग आवश्यक होता है। आयुर्वेद में दोषज, कर्मज और दोष कर्मज—इन तीन प्रकार के रोगों का उल्लेख उपलब्ध होता है। इन में से दोषज रोग मिथ्या आहार-विहारादि द्वारा, कर्मज रोग नियमित दिन-चर्या, रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन करते हुए भी, पूर्वकृत कर्म के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं, जबकि दोष-कर्मज व्याधियां दोनों ही कारणों के सन्निपात से उत्पन्न होती हैं। कर्म द्वारा उत्पन्न रोग चिकित्सा से भी दूर नहीं होते क्योंकि कर्म चिकित्सा के प्रभाव को भी नष्ट कर देते हैं। कर्मों के फल का भोग करना ही होता है—'कडाण कम्माणण मोक्ख अत्थि' (उत्तराध्ययन)—इस तथ्य को जैन धर्म के अनुयायियों ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप में चार प्रकार के कर्म-बन्ध होते हैं।

चउव्विहे निगाइये पण्णत्ते तं जहा—

पगइ-निगाइये, ठिइनिगाइये, अणुभागनिगाइये, पएसनिगाइये। (स्थानांग ४/२/२९९)

जैनाचार्यों ने भी रोगों का वर्गीकरण दोषों के आधार पर चार प्रकार (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक) से किया है:—

चउव्विहा वाही पण्णत्ते तं जहा—वाइये, पित्तिए, सिंभिए, सन्निवाइये। (स्थानांग ४/४/५१५)

आचार्य भद्रबाहु ने रोगों के इन चार वर्गों में कुल पांच करोड़ अडसठ लाख निन्यानवे हजार पांच सौ चौरासी रोग कहे हैं। इनमें से प्रमुख १६ रोगों का उल्लेख जैन साहित्य में किया गया है। (१) गंडी (गंडमाला) (२) कुष्ठ (३) राजयक्ष्मा (४) अपस्मार (५) काणिय—काण्य अक्षिरोग (६) झिमिय-जड़ता (७) कुणिय-हीनांगत्व (८) खुज्जिय—कुबड़ापन (९) उदररोग (१०) मूकता (११) सूणीय—सर्वशरीरगतशोथ (१२) गिलासणि- (१३) वेवई—कंप (१४) पीठसाप्पे—पंगुत्व (१५) सिलिवय—श्लीपद (१६) मधुमेह।

व्याधयः :—

"अतीवबाधाहेतवः कुष्ठादयो रोगाः ज्वरादयः" उत्तराध्ययन टीका के इस कथन के अनुसार सामान्य कार्य-संपादन में अत्यधिक बाधा उत्पन्न करने वाले कुष्ठादि को व्याधि और ज्वरादि को रोग कहा जा सकता है। इन उपर्युक्त प्रमुख १६ रोगों के अतिरिक्त भी कुलरोग, ग्रामरोग, नगररोग, मंडलरोग आदि का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

जैनाचार्यों ने रोगोत्पत्ति के—अत्यासन (अधिक देर तक बैठना), अहितासन (विरुद्ध आसन से बैठना), अतिनिद्रा, उच्चार-निरोध, प्रस्रवण-निरोध, अतिगमन, विरुद्ध आहार तथा विषय-वासना में अत्यधिक लिप्ति—आदि ९ कारण परिगणित कराये हैं। इस संदर्भ में वेगों का धारण अर्थात् किसी भी कार्यवश वेगों को रोकना अनुचित कहा गया है। मल-मूत्रादि के वेगों के धारण करने से तेजनाश, तेज-शक्ति-ह्रास के साथ-साथ मृत्यु की भी संभावना व्यक्त की गई है। वायु वेग के धारण से कुष्ठ रोग की उत्पत्ति, और वीर्य-वेग धारणा से पुरुषत्व का नाश कहा गया है। वृहत्कल्प भाष्य में इस सम्बन्ध में विश्लेषणात्मक पक्ष प्रस्तुत किया गया है, जिसके अनुसार :—

पुरीष-वेग धारण से— — —मृत्यु

मूत्र-वेग-धारण से— — — —दृष्टि क्षय, और

वायु-वेग धारण से — — — —कुष्ठ

इन अधारणीय वेगों का विवेचन चरक व अष्टांग-हृदय संहिताओं में वर्णित अधारणीय वेगों के समान ही हैं।

आयुर्वेद में वैद्य, औषधि, रोगी और परिचारक—ये चिकित्सा के चार प्रमुख अंग स्वीकार किये गये हैं। जैन साहित्य में भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी विवेचन के समर्थन में कथन प्राप्त होता है—

चउव्विहा तिगिच्छा पण्णत्ता तं जहा—

विज्जो, ओसहाइं आउरे, परियारए। (स्थानांग ४/४/५१६)

आयुर्वेद के कायचिकित्सा, शल्य, शालक्य, भूतविद्या, कौमार्य भृत्य, अगदतंत्र, रसायन एवं वाजीकरण व रसायन—आदि प्रकारों का भी उल्लेख जैन साहित्य में उपलब्ध है :—

अट्ठविहे आउव्वेए पण्णत्ते, तं जहा कुमारभिच्चे, कायतिगिच्छा, सालाई, सल्लहत्ता, जंगोली, भय विज्जा, खारतंते रसायणे।
(स्थानांग-८/२६)।

जिन प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद जैन साधुओं ने आयुर्वेदीय साहित्य को जैन सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए तथा धार्मिक नियमों का पालन करते हुये, अभिवृद्ध किया है, उनमें, परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र, आचार्य जिनसेन, वीरसेन आचार्य, सोमदेव, महापंडित आशाधर आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने स्वतंत्र रूप से आयुर्वेदीय साहित्य की सर्जना करने के साथ आयुर्वेदीय साहित्य के निर्माण करने की चेष्टा की है। जैन धर्मावलम्बियों के द्वारा आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया गया है। इनमें उग्रादित्य आचार्य द्वारा लिखित कल्याण-कारक, श्री पूज्यपाद स्वामी द्वारा संकलित वैद्यसार आदि प्रमुख हैं। निदान चिकित्सा आदि विषयों पर जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थ-राजों का प्रणयन किया है। इस संदर्भ में हर्षकीर्ति सूरि, अनन्तदेव सूरि, श्रीकण्ठ सूरि और वैद्यक कण्ठराज के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी समन्तभद्र के वैद्यक ग्रन्थ के अनेकों उद्धरण योगरत्नाकर में प्राप्त है, किन्तु यह पुस्तक अप्राप्य है। जैनाचार्यों ने इन आयुर्वेदीय ग्रंथों की रचना प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ और हिन्दी आदि सभी भाषाओं में की है। इसके अतिरिक्त बंगाली, पंजाबी, तमिल आदि भाषाओं में भी इन आचार्यों द्वारा आयुर्वेदीय साहित्य सृजन के उदाहरण प्राप्त होते हैं।

इस समस्त उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि जैन आचार्यों ने अध्यात्म-विद्या तक ही अपने आपको सीमित नहीं किया, वरन् धर्म, अर्थ, दर्शन, न्याय एवं आयुर्वेद—इन सभी के क्षेत्रों में अपने को प्रकाशित किया है। उनके इस भारतीय संस्कृति को किये गये अद्वितीय योगदान ने लोकहित एवं स्वपरकल्याण—इन दोनों ही मार्गों को प्रशस्त किया है।

प्राचीन भारत में चिकित्सा

चिकित्सकों को भारतीय समाज में सदैव आदर की दृष्टि से देखा गया है। वेदों में अश्विनीकुमारों के सम्बन्ध में अनेक मंत्र हैं। अश्विनीकुमार उस युग के प्रमुख वैद्य थे और लोककल्याण के निमित्त चिकित्सा किया करते थे। वैदिक युग की चिकित्सा-पद्धति कितनी विकसित थी—इसका अनुमान अश्विनीकुमारों की स्तुति में प्रयुक्त इस ऋचा से लगाया जा सकता है, "वृद्ध कलि नामक स्तोता को तुमने यौवन से युक्त किया था। तुम लोगों ने लंगड़ी विश्वपला को लोहे का चरण देकर उसे गतिसमर्थ बना दिया था।" अश्विनीकुमारों की तरह ऋभुगण भी वैद्य थे और इनकी पूजा भी आर्य श्रद्धा से किया करते थे।

पश्चिमोत्तर भारत के तक्षशिला में जो एक विश्वप्रसिद्ध विश्वविद्यालय था उसमें चिकित्सा शास्त्र पर विशेष रूप से अध्ययन कराया जाता था। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र में पारंगत होकर निकलते थे उनका समाज में विशेष स्थान होता था। ऐसे प्रकरण मिलते हैं कि जब कभी भ० बुद्ध बीमार पड़ते थे, तब उनके भक्त ऐसे प्रसिद्ध वैद्य को उपचार के निमित्त बुलाते थे जो कि तक्षशिला का स्नातक हो।

जैनाचार्यों ने अपनी परमकारुणिक दृष्टि के कारण ऐसी औषध विधियों का धर्म ग्रन्थों में उल्लेख किया है जिसमें मधु, मद्य एवं माँस का अनुपान न हो। आचार्य समन्तभद्र ने 'सिद्धान्तरसायनकल्प' एवं 'पुष्पायुर्वेद' जैसे बृहद् मौलिक ग्रन्थों की संरचना कर चिकित्सक समाज को अनेक प्रयोगों की सामग्री प्रदान की थी। उन्होंने अपने ग्रन्थ में १८००० प्रकार के परागरहित पुष्पों का उल्लेख किया है। जैनधर्म के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मानन्दमहाकाव्य' में ऐसी शल्यचिकित्सा की विधि का उल्लेख है, जिसमें शरीरस्थ रोग के कीटाणुओं को जीवित रखते हुए कुष्ठ रोग की चिकित्सा की जाती थी।

आचार्य सुश्रुत एवं चरक ने औषध-शास्त्र एवं शल्य-चिकित्सा का जो कीर्तिमान स्थापित किया था वह लगभग १५५० ई० तक निरन्तर प्रवहमान रहा। भवमिश्र ने उपदंश के उपचार का उल्लेख किया है। यह रोग भारत में पुर्तगालवासियों के जरिये आया था। भारतीय चिकित्सकों ने समय-समय पर उत्पन्न हुई बीमारियों पर अपने सफल निदान देकर मानव-कल्याण में सहयोग दिया है। यहां के वैद्यों ने रोग-निवारण के लिए औषधियों के अतिरिक्त चीर-फाड़ में भी सफल प्रयोग किए थे। शल्यचिकित्सा में यहां पर सवा नौ सौ प्रकार के औजार प्रचलित थे और सुप्रसिद्ध चिन्तक गेरिसन के अनुसार, "ऐसा कोई भी बड़ा आपरेशन नहीं था, जिसे प्राचीन हिन्दु सफलतापूर्वक नहीं कर सकते थे"।

बौद्ध धर्म ग्रन्थों में जीवक नामक एक वैद्य ने एक सेठ के मस्तक का आपरेशन किया था। हैवेल ने लिखा है कि खलीफा हारूं-अल-रसीद ने अपने राज्य में, अस्पतालों का संगठन करने के लिए भारतीय वैद्यों को आमन्त्रित किया था। लार्ड एम्पथिल के अनुसार तो मध्यकालीन तथा अर्वाचीन यूरोप को चिकित्सा-सम्बन्धी सारा ज्ञान अरबों से मिला था और अरबों को भारत से।

(पं० जवाहर लाल नेहरू, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' एवं अन्य लेखकों के निबन्धों के आधार पर प्रस्तुत)

—सम्पादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org